Shodh Sangam Patrika
E-ISSN: 3049-0707, P-ISSN: 3049-172X, Volume 2 | Issue 2 | (Apr – Jun 2025)

छऊ शिल्प: धार्मिक अनुष्ठान और कलात्मक नवाचार की सहयात्रा

श्री सत्यजीत विश्वास [1], डॉ. लवनीश शर्मा [2]

[1,2] सहायक प्राध्यापक, ललित कला संकाय, एमिटी विश्वविद्यालय, कोलकाता

सारांश

छऊ, भारत के पूर्वी क्षेत्रों विशेषतः पश्चिम बंगाल, झारखंड और ओड़िशा से उत्पन्न एक पारंपरिक भारतीय नृत्य रूप है, जिसमें जीवंत रंगों और बारीकी से निर्मित मुखौटों का प्रयोग कर सांस्कृतिक आख्यानों, पौराणिक कथाओं और स्थानीय लोककथाओं को प्रस्तुत किया जाता है। यह शोध-पत्र छऊ मुखौटों में प्रयुक्त रंगों और डिजाइनों के प्रतीकात्मक महत्व का अध्ययन करता है, और यह दर्शाता है कि किस प्रकार ये मुखौटे अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण और संवाहन में सहायक होते हैं। नृवंशविज्ञानात्मक (ethnographic) और व्याख्यात्मक (interpretative) दृष्टिकोण से किया गया यह अध्ययन यह उजागर करता है कि छऊ मुखौटे केवल सौंदर्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, बल्कि वे सामुदायिक पहचान, आध्यात्मिक अभिव्यक्ति और लोककथात्मक संवाद के सशक्त माध्यम भी हैं।

मूल शब्द: छऊ नृत्य, भारत की लोककला, छऊ मुखौटे, पुरुलिया छऊ, मुखौटा प्रदर्शन, अनुष्ठानात्मक प्रदर्शन कला, सांस्कृतिक सौंदर्यबोध, मुखौटा शिल्पी।

1. भूमिका

भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत इसकी असंख्य लोक परंपराओं में गहराई से निहित है, जहाँ प्रदर्शन, अनुष्ठान और शिल्पकला एक साथ मिलकर सामुदायिक पहचान की विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। इन परंपराओं में, छऊ नृत्य एक ऐसा लोक प्रदर्शन है जो अपनी युद्ध-कला सरीखी नृत्य मुद्राओं, पौराणिक कथा-वाचन और विशेष रूप से अलंकृत मुखौटों के प्रयोग के लिए जाना जाता है। छऊ एक एकरूपी शैली नहीं है, बल्कि यह अनेक स्थानीय परंपराओं का संगम है, जिनकी अपनी सौंदर्य दृष्टि और प्रतीकात्मक शब्दावली है।

विशेष रूप से पुरुलिया शैली में प्रयुक्त छऊ मुखौटे सशक्त सांस्कृतिक प्रतीक हैं। ये केवल रंगमंचीय वस्त्र या उपकरण नहीं हैं, बल्कि इनके भीतर गहन अर्थ निहित होते हैं जैसे कि देवताओं का प्रतिनिधित्व, या अच्छाई बनाम बुराई, अराजकता बनाम व्यवस्था, और न्याय बनाम अत्याचार जैसे अमूर्त विचारों की प्रस्तुति।

छऊ परंपरा जहां एक ओर प्रदर्शनकारी है, वहीं यह गहराई से आध्यात्मिक भी है। जब कलाकार मुखौटा धारण करता है, तो वह एक देवता या पौराणिक चरित्र में रूपांतरित हो जाता है, जिससे लौकिक और दैविक के बीच की सीमाएं अस्थायी रूप से मिट जाती हैं। यह देहधारी कथा-वाचन की शैली पीढ़ी दर पीढ़ी सांस्कृतिक ज्ञान के हस्तांतरण का माध्यम बनी है, जिसमें प्रमुख रूप से रामायण, महाभारत, पुराण तथा स्थानीय लोककथाओं के प्रसंगों को शामिल किया जाता है।

पश्चिम बंगाल के पुरुलिया ज़िले का चरिदा गांव छऊ मुखौटा निर्माण का केंद्र माना जाता है, जहाँ की कारीगर जातियाँ इस जटिल शिल्प परंपरा को सदियों से संरक्षित करती आ रही हैं।

2. छऊ मुखौटों की उत्पत्ति और विकास

छऊ नृत्य की परंपरा, और इसके साथ ही इसके विशिष्ट मुखौटों की परंपरा, भारत के प्राचीन युद्धकला, जनजातीय संस्कृति और अनुष्ठानिक परंपराओं में गहराई से निहित है। विद्वानों का मानना है कि छऊ की उत्पत्ति एक स्वदेशी युद्धाभ्यास के रूप में हुई थी, जिसका उद्देश्य योद्धाओं को प्रशिक्षण देना और समुदाय में एकता स्थापित करना था, जिसे नृत्य-सदृश युद्ध-कौशल की गतियों के माध्यम से व्यक्त किया जाता था। समय के साथ, ये गतियाँ शैलीबद्ध हो गईं और पर्व-त्योहारों की प्रस्तुतियों में समाहित हो गईं, जिससे यह परंपरा विकसित होकर आज के नाटकीय छऊ नृत्य रूपों में परिवर्तित हो गई, जो वर्तमान में पश्चिम बंगाल के पुरुलिया, झारखंड के सरायकेला, और ओड़िशा के मयूरभंज में देखी जाती है।

मुखौटों का उपयोग जनजातीय और लोक परंपराओं से गहराई से जुड़ा हुआ है, जहाँ देवताओं, राक्षसों और पशुओं का रूप धारण कर वेशभूषा और प्रदर्शन के माध्यम से धार्मिक और मौसमी उत्सवों को मनाया जाता था। छऊ में प्रयुक्त मुखौटों का विकास संभवतः उन परंपराओं से हुआ है जो प्राकृतिक उपासना और पूर्वज पूजा में पाई जाती थीं, जहाँ मुखौटा एक माध्यम बनता था कलाकार की अलौकिक या दैवी सत्ता में रूपांतरण का, जिसे वह मंच पर प्रस्तुत करता था।

मध्यकालीन काल में छऊ के आख्यानों में जो पौराणिक बदलाव आया जहाँ युद्धप्रधान विषयवस्तु से धार्मिक महाकाव्यों की ओर झुकाव हुआ उसने पात्रों के अधिक सूक्ष्म चित्रण की आवश्यकता उत्पन्न की, जिससे अधिक परिष्कृत मुखौटा निर्माण की परंपरा विकसित हुई। रामायण, महाभारत और पुराणों से पात्रों को तेजी से छऊ प्रदर्शन में सम्मिलित किया जाने लगा, जिससे वीरों, देवताओं, ऋषियों और राक्षसों में दृश्य अंतर करने हेतु एक विशेष दृश्य व्याकरण की रचना हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी तक पश्चिम बंगाल के पुरुलिया ज़िले का चरिदा गांव छऊ मुखौटा निर्माण का प्रमुख केंद्र बन गया था। मौखिक इतिहास और शिल्प वंशावलियाँ वर्तमान कारीगर परिवारों की इस परंपरा में भागीदारी को कम से कम पाँच पीढ़ियों तक पीछे ले जाती हैं, जो एक संगठित और वंशानुगत शिल्प-आर्थिकी का संकेत देती हैं।

औपनिवेशिक काल के नृवंशशास्त्रियों जैसे ई.बी. हैवेल तथा बाद में बीसवीं सदी के भारतीय लोककथाविदों ने छऊ को एक समन्वित कला रूप के रूप में वर्गीकृत और प्रलेखित करना प्रारंभ किया जो आंशिक रूप से युद्धकला, आंशिक रूप से लोकनाट्य और आंशिक रूप से धार्मिक अनुष्ठान है। इस मान्यता के परिणामस्वरूप छऊ मुखौटों को एक संकेतात्मक कलाकृति के रूप में पुनः अकादमिक रुचि प्राप्त हुई जो जाति, पौराणिकता, लिंग भूमिका और स्थानीय ब्रह्मांड दृष्टिकोण जैसे अनेक स्तरों पर अर्थों को समाहित करते हैं।

स्वतंत्रता के बाद के युग में, आधुनिकीकरण, पर्यटन और वैश्वीकरण की प्रतिक्रिया स्वरूप छऊ मुखौटों में और भी परिवर्तन आए हैं। कारीगरों ने छोटे, सजावटी मुखौटे बनाना शुरू किया, जिन्हें पर्यटकों और संग्रहकर्ताओं के लिए बेचा जाने लगा अक्सर इसके अनुष्ठानिक महत्व को बाज़ारी आकर्षण के लिए कमजोर करते हुए। यद्यपि इस बदलाव ने कारीगरों के लिए आर्थिक अवसरों में वृद्धि की है, लेकिन आलोचकों का तर्क है कि यह पवित्र कला को एक वस्तु में बदलने का जोखिम रखता है और इसे इसके प्रदर्शनात्मक और सामुदायिक मूल से विच्छिन्न कर सकता है।

इन परिवर्तनों के बावजूद, मुखौटा निर्माण आज भी एक सजीव और समृद्ध परंपरा के रूप में विद्यमान है। साथ ही, इको-फ्रेंडली रंगों का उपयोग और सामुदायिक सहभागिता वाले उत्सवों जैसी नवाचारात्मक पहलें इस परंपरा को आधुनिक दर्शकों के लिए प्रासंगिक बनाए रखते हुए जीवित रखे हुए हैं।

3. छऊ मुखौटों की तैयारी

3.1. अनुष्ठानिक और वैचारिक आधार

मुखौटा निर्माण की प्रक्रिया आरंभ होने से पूर्व पारंपरिक छऊ शिल्पकार स्थानीय देवी-देवताओं, विशेषकर भगवान शिव या विश्वकर्मा जो देव शिल्पी माने जाते हैं की पूजा-अर्चना करते हैं। यह अनुष्ठानिक प्रक्रिया निर्माण-स्थल और शिल्पकारों को शुद्ध करने के लिए की जाती है, जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि तैयार किए गए मुखौटे आध्यात्मिक रूप से शक्तिशाली हों और किसी भी नकारात्मक प्रभाव से मुक्त रहें। जब देवी-देवताओं के मुखौटे बनाए जा रहे हों, तब कारीगर विशेष आहार नियमों का पालन करते हैं और मद्यपान से परहेज करते हैं। यह संयम मुखौटा निर्माण को एक पवित्र और आध्यात्मिक कर्तव्य के रूप में दर्शाता है, न कि केवल एक कलात्मक या आर्थिक गतिविधि।

3.2 साँचा बनाना और संरचना निर्माण

मुखौटा निर्माण की प्रक्रिया की शुरुआत एक मिट्टी के साँचे के निर्माण से होती है, जिसे लकड़ी या पत्थर के मजबूत आधार पर तैयार किया जाता है। कारीगर इस चरण में आँखें, नाक, होंठ, और जबड़ा जैसी विशेषताओं को मुलायम मिट्टी से तराशते हैं, जिससे मुखौटे की मूल आकृति बनती है।

इसके बाद, उस मिट्टी के मॉडल पर पेपर-माशे (स्थानीय रूप से जिसे शोला कागज़ कहा जाता है) की परतें लगाई जाती हैं। ये परतें पुराने अख़बारों या मुलायम टिशू पेपर से बनती हैं, जिन्हें गोंद और पानी के मिश्रण में भिगोया गया होता है। इन परतों को अत्यंत सावधानी से मिट्टी की मूर्ति पर चिपकाया जाता है ताकि मूल मॉडल की बारीक आकृतियाँ जैसे चेहरे की अभिव्यक्ति साफ़-साफ़ उभर कर आएँ। सामान्यतः 8 से 10 परतें पेपर-माशे की लगाई जाती हैं, और हर परत को पूरी तरह सूखने दिया जाता है ताकि मुखौटे की संरचनात्मक मज़बूती सुनिश्चित की जा सके।

पेपर-माशे की परतें पूरी तरह सूख जाने के बाद, मुखौटे को साँचे से बहुत सावधानीपूर्वक अलग किया जाता है। इसके बाद, उसे कपड़े की पट्टियों और गोंद की सहायता से मज़बूती प्रदान की जाती है। फिर मुखौटे को

धूप में सुखाया जाता है ताकि उसमें नमी न रहे और वह रंगाई के लिए तैयार हो सके। इसके पश्चात मुखौटे पर सफेद मिट्टी की एक आधार परत चढ़ाई जाती है और उसे मुलायम कपड़े या पत्थर से पॉलिश किया जाता है ताकि सतह मृदुल और चिकनी हो।

3.3 रंगाई और सजावट

जब मुखौटा पूरी तरह सूख जाता है, तब कारीगर रंग भरने की प्रक्रिया आरंभ करते हैं, जो अत्यंत प्रतीकात्मक होती है। मुखौटे के चरित्र की प्रकृति के अनुसार रंगों का चयन किया जाता है: लाल रंग वीरता और दिव्यता का प्रतीक है, जिसका प्रयोग दुर्गा या हनुमान जैसे देवताओं के लिए किया जाता है। नीला या हरा रंग शांति या दैवीय रहस्य को दर्शाता है, जैसे कृष्ण या राम के मुखौटों में। काला या गहरा हरा रंग अशुभता या दानव स्वरूप को सूचित करता है, जैसे रावण या महिषासुर।

आजकल अधिकतर कारीगर ऐक्रिलिक या ऑयल पेंट का उपयोग करते हैं, हालांकि कुछ पारंपरिक शिल्पी प्राकृतिक रंगों का प्रयोग भी करते हैं। रंगाई के बाद मुखौटे को विभिन्न सजावटी सामग्रियों से सजाया जाता है, जिनमें चमकदार फॉइल पेपर, ज़री, सीक्विन्स, मनके, पंख और कृत्रिम बाल प्रमुख हैं।

3.4 कलात्मक सहयोग और श्रम विभाजन

छऊ मुखौटा निर्माण आमतौर पर पारंपरिक शिल्पकार परिवारों में एक सामूहिक गतिविधि के रूप में होता है। इस शिल्प में लिंग और आयु के अनुसार कार्य का विभाजन स्पष्ट रूप से देखा जाता है:

- पुरुष सामान्यतः संरचनात्मक कार्य जैसे साँचा बनाना, परतें चढ़ाना और मुखौटे को सुखाना की ज़िम्मेदारी निभाते हैं।
- वहीं, महिलाएँ और बच्चे अक्सर रंगाई, अलंकरण और बारीक सजावट के कार्यों में भाग लेते हैं।

3.5 समकालीन नवाचार

वर्तमान समय में छऊ मुखौटा निर्माण में आधुनिक तकनीकों और सामग्रियों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। फाइबरग्लास जैसे हल्के और टिकाऊ सामग्री का उपयोग मंच पर प्रस्तुति को अधिक सुविधाजनक बनाने के लिए किया जा रहा है। इसके अलावा, पर्यटकों और कला-संग्राहकों के लिए छोटे और सजावटी मुखौटे भी बनाए जा रहे हैं, जिन्हें घरों और दीवारों की सजावट के लिए खरीदा जाता है।

हालाँकि इन नवाचारों ने शिल्प की व्यावसायिक संभावनाओं को बढ़ाया है और शिल्पकारों के लिए नई आर्थिक राहें खोली हैं, लेकिन संस्कृति विशेषज्ञों और लोक-कला अध्येताओं के बीच इस बात की चिंता भी है कि कहीं यह प्रक्रिया अनुष्ठानिक गहराई और आध्यात्मिक महत्व को कम न कर दे।

आधुनिकीकरण के बावजूद, आज भी कई शिल्पकार छऊ मुखौटा निर्माण को गहन श्रद्धा और आस्था के साथ संपन्न करते हैं, विशेषतः जब ये मुखौटे धार्मिक त्योहारों जैसे चैत्र पर्व और गाजन के दौरान वास्तविक छऊ नाट्य-प्रदर्शन के लिए बनाए जा रहे हों।

ऐसे पवित्र मुखौटे केवल मंचीय वस्तुएँ नहीं होते, बल्कि इन्हें दैवत्व का प्रतीक माना जाता है। निर्माण प्रक्रिया के बाद इन मुखौटों को सम्मानपूर्वक रखा जाता है, और उन्हें गृह-देवताओं के आसन पर या सामुदायिक मंदिरों अथवा गोदामों में विशेष सावधानी और मर्यादा के साथ संग्रहित किया जाता है।

4. समकालीन सामाजिक, धार्मिक और लोक परिप्रेक्ष्य में छऊ मुखौटों की प्रासंगिकता

छऊ मुखौटे, जो परंपरागत रूप से अनुष्ठानिक नृत्य और धार्मिक कथा-वाचन से जुड़े रहे हैं, अब अपनी प्रदर्शनीय जड़ों से आगे बढ़कर क्षेत्रीय पहचान, कलात्मक विरासत और सामाजिक-धार्मिक अभिव्यक्ति के सशक्त प्रतीक बन चुके हैं। यद्यपि इनका प्रमुख उपयोग आज भी पुरुलिया (पश्चिम बंगाल), सरायकेला (झारखंड) और मयूरभंज (ओडिशा) के लोक छऊ नाट्य प्रस्तुतियों में होता है, लेकिन इनके दृश्यात्मक, प्रतीकात्मक और सामाजिक प्रभाव समकालीन भारत के विविध सांस्कृतिक क्षेत्रों तक फैल चुके हैं।

4.1 सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान

वर्तमान समय में छऊ मुखौटे लोक-सांस्कृतिक धरोहर और सामुदायिक अस्मिता के दृश्य प्रतीक के रूप में उभर रहे हैं। पुरुलिया के लोगों और चारीदा गांव के शिल्पकारों के लिए यह शिल्प मात्र एक हस्तकला नहीं, बल्कि एक जीवंत परंपरा है, जो ऐतिहासिक निरंतरता, जाति-आधारित पारंपरिक कौशल हस्तांतरण और आंचलिक गौरव को संजोए हुए है। ये मुखौटे अब न केवल लोक-त्योहारों में, बल्कि सार्वजनिक प्रदर्शनियों, शिल्प मेलों और पर्यटन सर्किटों में भी प्रमुखता से दिखने लगे हैं। इससे न केवल इस कला को नया मंच मिला है, बल्कि हाशिये पर रह रहे समुदायों को भी कलात्मक माध्यमों से अपनी पहचान प्रकट करने का अवसर प्राप्त हुआ है।

इसके अतिरिक्त, छऊ मुखौटे को अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की व्यापक विमर्शधारा में भी सम्मिलित कर लिया गया है, विशेषकर 2010 में यूनेस्को द्वारा छऊ नृत्य को "मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की प्रतिनिधि सूची" में शामिल किए जाने के बाद इस वैश्विक मान्यता ने न केवल इस कला रूप को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा प्रदान की, बल्कि राज्य और गैर-सरकारी संगठनों को इसके संरक्षण और संवर्द्धन के लिए प्रेरित भी किया।

4.2 धार्मिक प्रासंगिकता और अनुष्ठानिक निरंतरता

आधुनिकीकरण के बावजूद ग्रामीण धार्मिक जीवन में छऊ मुखौटों की अनुष्ठानिक भूमिका आज भी केंद्रीय बनी हुई है। गाजन, चैत्र पर्व, और राम नवमी जैसे त्योहारों के दौरान जब रामायण, महाभारत, और शैव पौराणिक कथाओं का नाटकीय मंचन छऊ नृत्य के माध्यम से किया जाता है, तब ये मुखौटे न केवल सौंदर्यबोध की वस्तुएँ होते हैं, बल्कि पवित्र अनुष्ठानिक उपकरण के रूप में कार्य करते हैं। इन धार्मिक प्रसंगों में, मुखौटे विशेष रूप से पूजा-अर्चना और संस्कार के माध्यम से अभिषिक्त किए जाते हैं, ताकि वे प्रदर्शन में दैवीय चरित्रों का साक्षात रूप ग्रहण कर सकें। जब कलाकार इन मुखौटों को धारण करते हैं, तो यह माना जाता है कि वे अस्थायी रूप से उस देवता या महापुरुष का आवाहन करते हैं, जिसे वे मंच पर जीवंत कर रहे होते हैं। यह प्रक्रिया न केवल नाटकीय है, बल्कि गहरे स्तर पर आध्यात्मिक और सामुदायिक सुरक्षा से भी जुड़ी होती है।

शिल्पकार और कलाकार अक्सर अनुष्ठानिक नियमों का पालन करते हैं, जैसे उपवास रखना या मांस और मदिरा से परहेज करना, विशेष रूप से तब जब वे देवी-देवताओं के मुखौटे बनाते हैं या उनके साथ प्रदर्शन करते हैं। यह प्रक्रिया मुखौटों की धार्मिक पवित्रता को सुदृढ़ करती है, भले ही वे शहरी कला दीर्घाओं या पर्यटन मेलों जैसे अपवित्र संदर्भों में प्रदर्शित किए जाएँ।

4.3 वैश्विक और बाज़ार संदर्भ में लोक कला

छऊ मुखौटों ने एक नई पहचान लोक कला वस्तुओं के रूप में प्राप्त की है, जिन्हें कला प्रेमियों द्वारा संग्रहित किया जाता है और संग्रहालयों, सांस्कृतिक केंद्रों तथा अंतरराष्ट्रीय हस्तशिल्प प्रदर्शनियों में प्रदर्शित किया जाता है। भारत के सांस्कृतिक पर्यटन उद्योग के विकास ने मुखौटों के वस्तुकरण में योगदान दिया है जिससे यह एक पवित्र वस्तु से एक पोर्टेबल जातीय प्रामाणिकता की कलाकृति में परिवर्तित हो गया है। हालाँकि इस व्यवसायीकरण ने शिल्पकारों की आर्थिक स्थिति को सुधारा है, लेकिन इसके साथ ही यह चिंता भी सामने आई है कि मूल अनुष्ठानिक अर्थ की हानि हो रही है और कलात्मक गहराई का क्षरण हो रहा है।

फिर भी, कई शिल्पकार परिवार बाज़ार की माँगों के अनुरूप सफलतापूर्वक ढल गए हैं, और अब वे पारंपरिक अनुष्ठानिक मुखौटों के साथ-साथ छोटे, सजावटी मुखौटे भी बिक्री के लिए तैयार करते हैं। सरकारी एजेंसियों, गैर-सरकारी संगठनों (NGOs) और सांस्कृतिक फाउंडेशनों द्वारा चलाई जा रही पहलों ने शिल्पकारों को प्रशिक्षण, अनुदान और मंच प्रदान किए हैं, जिससे वे बदलते सामाजिक-आर्थिक परिवेश में अपनी परंपरा को बनाए रख सकें।

हाल के वर्षों में छऊ मुखौटे समकालीन कला प्रदर्शनियों, राजनीतिक स्ट्रीट परफ़ॉर्मेंसों और डिजिटल मीडिया में दिखाई देने लगे हैं। इन नए प्रयोगों में अक्सर मुखौटे के प्रतीकात्मक स्वरूप का उपयोग सामाजिक मुद्दों जैसे पारिस्थितिकीय क्षरण, जातिगत भेदभाव और लिंग असमानता पर टिप्पणी करने के लिए किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, ग्रामीण बंगाल में जन-जागरूकता अभियानों के दौरान कलाकार छऊ मुखौटे पहनकर सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा और पर्यावरणीय व्यवहारों पर ग्रामीणों को शिक्षित करते हैं, जिससे यह पारंपरिक कला रूप नागरिक सहभागिता के लिए एक सशक्त उपकरण बन गया है।

5. निष्कर्ष

छऊ मुखौटों की परंपरा दृश्य कला, पौराणिक कथा, लोक धर्म और सामुदायिक पहचान का एक अद्वितीय संगम प्रस्तुत करती है। पूर्वी भारत, विशेष रूप से पश्चिम बंगाल के पुरुलिया क्षेत्र की अनुष्ठानिक और प्रदर्शनकारी संस्कृति में गहराई से निहित यह परंपरा एक जटिल संकेत-प्रणाली को मूर्त रूप देती है, जहाँ रंग, आकार और भाव-भंगिमाएँ हिन्दू महाकाव्यों, स्थानीय कथाओं और आदिवासी विश्वदृष्टियों की परत-दर-परत कहानियाँ दर्शकों तक पहुँचाती हैं। ये मुखौटे केवल रंगमंचीय उपकरण नहीं हैं, बल्कि ये पवित्र माध्यम हैं, जो आध्यात्मिक और सामाजिक, कलाकार और दिव्य के बीच सेतु का कार्य करते हैं।

छऊ मुखौटों में रंगों की भूमिका इस सांस्कृतिक समृद्धि को और गहराई प्रदान करती है। हर रंग चाहे वह दुर्गा का उग्र लाल हो, रावण का गहरा काला हो या राजसी पात्रों का चमकदार सुनहरा एक प्रतीकात्मक भाषा बोलता है जिसे ग्रामीण दर्शक सहज ही समझ लेते हैं। ये मुखौटे पौराणिक कथाओं के दृश्य कथावाचक होते हैं, साथ ही एक नैतिक संरचना भी निर्मित करते हैं जो ग्रामीण समाज की सांस्कृतिक दृष्टि को दिशा देती है।

आधुनिक समय में छऊ मुखौटों की प्रासंगिकता ने नए दर्शकों और माध्यमों से संवाद करना शुरू किया है। ये राष्ट्रीय कला महोत्सवों, अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शनियों, शैक्षणिक पाठ्यक्रमों और पर्यटन बाजारों में अपनी उपस्थिति के माध्यम से भारत की अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर के प्रति बढ़ती सराहना को दर्शाते हैं। 2010 में छऊ नृत्य को यूनेस्को द्वारा "मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर" के रूप में मान्यता मिलने से इस लोक परंपरा को वैश्विक स्तर पर संरक्षित और प्रचारित करने के प्रयासों को नया बल मिला। कारीगर परिवारों ने लघु और सजावटी मुखौटों का निर्माण कर इस कला को अधिक सुलभ और आर्थिक रूप से व्यवहार्य बना दिया है।

हालांकि, इस विकास यात्रा में कई चुनौतियाँ भी उभरकर सामने आई हैं। सबसे प्रमुख चिंता मुखौटों के व्यवसायीकरण और वस्तुकरण की है, जिसके परिणामस्वरूप उनके अनुष्ठानिक सार और प्रतीकात्मक गहराई का ह्रास होता जा रहा है। पर्यटन के लिए बड़े पैमाने पर उत्पादन ने उस पारंपरिक शिल्प प्रक्रिया को कई बार विस्थापित कर दिया है, जो साधना और श्रद्धा से परिपूर्ण होती थी। इसके अतिरिक्त, युवा पीढ़ी का शहरी क्षेत्रों की ओर पलायन पारंपरिक शिक्षुता की परंपरा को कमजोर कर रहा है, जिससे यह शिल्प संकट में पड़ सकता है। आर्थिक अस्थिरता, संस्थागत समर्थन की कमी और बाज़ार की अनिश्चित माँगें इस परंपरा को और भी जटिल बना देती हैं।

यद्यपि सरकार और गैर-सरकारी संगठनों द्वारा प्रशिक्षण और वित्तीय सहायता के क्षेत्र में कुछ पहलें की गई हैं, फिर भी अधिकांश कारीगर आज भी असुरक्षित आर्थिक परिस्थितियों में काम करते हैं जहाँ स्वास्थ्य सेवा, शिक्षा और तकनीकी संसाधनों की पहुँच सीमित है। कोविड-19 महामारी ने इन कमजोरियों को और उजागर कर दिया, जिससे प्रदर्शन कार्यक्रम रद्द हुए, पर्यटन रुका और कारीगरों की आजीविका पर गहरा असर पड़ा।

इन परिस्थितियों के आलोक में, छऊ मुखौटा परंपरा के संरक्षण हेतु एक बहुआयामी रणनीति की आवश्यकता है ऐसी रणनीति जो सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण को आर्थिक सशक्तिकरण से जोड़े, अनुष्ठानिक शुद्धता को रचनात्मक नवाचार से संतुलित करे, और स्थानीय स्वामित्व को वैश्विक मान्यता से जोड़ने का प्रयास करे। इस दिशा में कारीगर सहकारी समितियाँ, डिजिटल अभिलेखीकरण, शैक्षणिक सहयोग, और सतत पर्यटन मॉडल महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

मूलतः, छऊ मुखौटा केवल अतीत का एक कलात्मक अवशेष नहीं है यह सांस्कृतिक जिजीविषा (resilience) का एक जीवंत और विकसित होता प्रतीक है। इस परंपरा का अध्ययन और समर्थन करना उस विश्वदृष्टि की पुष्टि करना है, जहाँ कला, पौराणिकता और समुदाय एक-दूसरे से अविभाज्य हैं एक ऐसा संसार जहाँ रंग विश्वास, पहचान और निरंतरता की भाषा बन जाते हैं, चाहे समय कितना भी बदल जाए।

चित्र: 1, 2, 3

चित्र 1

चित्र 2

चित्र 3

शर्मा, डॉ. लवनीश, छऊ मुखौटों और शिल्पकारों के चित्र, लेखक द्वारा खींचे गए। (चित्र 1, 2, 3)।

चित्र: 4,5,6

चित्र 4

चित्र 5

चित्र 6

गूगल से प्राप्त सार्वजनिक डोमेन (Public Domain) चित्र।

संदर्भ सूची:-

1. वत्स्यायन, क. (1996)। *भारतीय शास्त्रीय नृत्य: साहित्य और कला में*। नई दिल्ली: संगीत नाटक अकादमी;
2. सिन्हा, ए. (2006)। *भारत की पारंपरिक प्रदर्शनकारी कलाएँ*। नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट।
3. बैनर्जी, ए. (2020)। *पूर्वी भारत की लोककलाएँ: परंपरा और परिवर्तन*। नई दिल्ली: रूपा पब्लिकेशन्स;
4. घोष, पी. (2019)। *चारिडा के मुखौटा निर्माता: सांस्कृतिक अर्थव्यवस्था और विरासत संरक्षण*। कोलकाता: आनंद पब्लिशर्स।
5. बैनर्जी, ए. (2020)। *पूर्वी भारत की लोककलाएँ: परंपरा और परिवर्तन*। नई दिल्ली: रूपा पब्लिकेशन्स
6. मुखर्जी, डी. (2020)। *मुखौटे, मिथक और गति: समकालीन संदर्भ में छऊ नृत्य की समझ*। *इंडियन थियेटर रिव्यू*, 5(3), 112–130।

7. भट्टाचार्य, एस. (2018)। *छऊ नृत्य और मुखौटा प्रदर्शन की सौंदर्य दृष्टि*। *जर्नल ऑफ इंडियन फोकलोर स्टडीज़*, 12(1), 35–48।
8. चटर्जी, आर. (2017)। *लोक की दृश्य भाषा: भारतीय प्रदर्शन में मुखौटे और अर्थ*। कोलकाता: साहित्य संसद।
9. भट्टाचार्य, एस. (2018)। *छऊ नृत्य और मुखौटा प्रदर्शन की सौंदर्य दृष्टि*। *जर्नल ऑफ इंडियन फोकलोर स्टडीज़*, 12(1), 35–48।
10. रॉय, टी. (2022)। *पहचान के कारीगर: बदलती दुनिया में छऊ मुखौटा निर्माता*। *फोक आर्ट्स क्वार्टरली*, 7(1), 25–40।
11. भट्टाचार्य, एस. (2018)। *छऊ नृत्य और मुखौटा प्रदर्शन की सौंदर्य दृष्टि*। *जर्नल ऑफ इंडियन फोकलोर स्टडीज़*, 12(1), 35–48।.
12. रॉय, टी. (2022)। *पहचान के कारीगर: बदलती दुनिया में छऊ मुखौटा निर्माता*। *फोक आर्ट्स क्वार्टरली*, 7(1), 25–40।
13. घोष, पी. (2019)। *चारिडा के मुखौटा निर्माता: सांस्कृतिक अर्थव्यवस्था और विरासत संरक्षण*। कोलकाता: आनंद पब्लिशर्स।
14. सेन, एम. (2021)। *रंगीन कथाएँ: भारतीय लोककला में रंग की व्याख्या*। *एशियन आर्ट जर्नल*, 15(2), 80–95
15. बैनर्जी, ए. (2020)। *पूर्वी भारत की लोककलाएँ: परंपरा और परिवर्तन*। नई दिल्ली: रूपा पब्लिकेशन्स
16. सिन्हा, ए. (2006)। *भारत की पारंपरिक प्रदर्शनकारी कलाएँ*। नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट।
17. घोष, पी. (2019)। *चारिडा के मुखौटा निर्माता: सांस्कृतिक अर्थव्यवस्था और विरासत संरक्षण*। कोलकाता: आनंद पब्लिशर्स।